जैनधर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का स्वरूप

मॉरल आब्लीगेशन् के लिए हिन्दी भाषा में नैतिक प्रभुशक्ति, नैतिक बाध्यता, नैतिक दायित्व या नैतिक कर्तव्यता शब्दों का प्रयोग हुआ है। वस्तुत: मॉरल आब्लीगेशन् दायित्व-बोध या कर्तव्यबोध की उस स्थिति का सूचक है जहाँ व्यक्ति यह अनुभव करता है कि "यह मुझे करना चाहिए।" पाश्चात्य नीतिवेत्ताओं के अनुसार नैतिक कर्तव्यता का स्वरूप "यह करना चाहिए" इस प्रकार का है, न कि "यह करना होगा।" पाश्चात्य परम्परा में नैतिक कर्तव्यता को "चाहिए" (Ought) के रूप में और धार्मिक कर्तव्यता को 'होगा' (Must) के रूप में देखा गया; क्योंकि धर्म को ईश्वरीय आदेश माना गया। जबकि भारतीय परम्परा में विशेष रूप से जैन परम्परा में नैतिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार को कर्तव्यता की प्रकृति एक सोपाधिक कथन के रूप में है, उसमें चाहिए का तत्त्व तो है, किन्तु, उसके साथ एक बाध्यता का भाव भी है। उसमें "चाहिए" (Ought) और "होगा" (Must) का सुन्दर समन्वय है। उसका स्वरूप इस प्रकार का है— यदि तुम ऐसा चाहते हो तो तुम्हें ऐसा करना होगा अर्थात् यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो तुम्हें सम्यक् चारित्र का पालन करना होगा। उसमें बाध्यता में भी स्वतन्त्रता निहित है। इसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा में और विशेष रूप से जैन और बौद्ध परम्पराओं में धर्म और नीति के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची गई और न उन्हें एक दूसरे से पृथक् माना गया है। पुन: जैन दर्शन के अनुसार नैतिक एवं धार्मिक दायित्व या कर्तव्यता की इस बाध्यता का उद्‌गम आत्मा द्वारा कर्म-सिद्धान्त की स्वीकृति में रहा है। यद्यपि कर्म-सिद्धान्त एक वस्तुनिष्ठ नियम है, किन्तु, उसका नियामक तत्त्व स्वयं आत्मा ही है। कर्म-नियम पर आत्मा की यह नियामकता उसके आचार की पवित्रता के साथ बढ़ती है।

जैन परम्परा में तीन प्रकार की आत्माएँ मानी गयी हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा ओर परमात्मा। इसमें बहिरात्मा इन्द्रियमय आत्मा है और अन्तरात्मा विवेकमय आत्मा है। नैतिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार के दायित्वों की कर्तव्यता का उद्भव विवेकमय आत्मा से होता है, जो इन्द्रियमय आत्मा को वैसा करने के लिए बाध्य करती है। जैन दर्शन और जे०एस०मिल इस सन्दर्भ में एकमत हैं कि सम्पूर्ण नैतिकता और धार्मिकता के दायित्व की चेतना का आधार कर्तव्य के विधान से उत्पन्न विवेकमय अन्तरात्मा की तीव्र वेदना ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ मिल का आन्तरिक आदेश मात्र भावनामूलक है वहाँ जैन दर्शन का आन्तरिक आदेश भावना और विवेक के समन्वय में उद्भूत होता है। वह कहता है कि यदि तुम्हें अमुक आदर्श प्राप्त करना है तो अमुक प्रकार से आचरण करना ही होगा। सम्यग्चारित्र का विकास सम्यग्दर्शन (भावना) और सम्यग्ज्ञान (विवेक) के आधार पर होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता के लिए एक आबन्ध प्रस्तुत करते हैं, परिणामत: आत्मा सम्यग्चारित्र (सदाचार) की दिशा में प्रवृत्त होता है।

चूँकि जैन दर्शन किसी ऐसे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है, जो "कर्म के नियम" का नियामक या अधिशास्ता है, अत: उसमें नैतिक और धार्मिक बाध्यता बाह्य-आदेश नहीं, अपितु, कर्म नियम की द्रष्टा अन्तरात्मा का ही आदेश है। उसमें बाध्यता तो है, किन्तु, यह बाध्यता निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है।

जैन-दर्शन के अनुसार वस्तु स्वभाव को ही धर्म कहा जाता है और यदि वस्तु स्वभाव ही धर्म है, तो धार्मिक कर्तव्यों की बाध्यता का उद्भव बाहर से ही न होकर अन्दर से होगा। जैन दर्शन में आत्मा का स्वभाव "समता" बताया गया है। अत: "समभाव की साधना" की कर्तव्यता का आधार बाहरी न होकर आन्तरिक है। इसी प्रकार प्राणीय प्रकृति का स्वाभाविक गुण जिजीविषा है और अहिंसा की नैतिक कर्तव्यता इसी जिजीविषा के कारण है। कहा गया है— "सभी जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता।" अत: प्राण-वध का निषेध किया गया है। इस प्रकार जैन धर्म में चाहे समभाव की साधना की कर्तव्यता का प्रश्न हो या अहिंसा के व्रत के पालन का प्रश्न हो, उनकी बाध्यता अन्तरात्मा से ही आती है, वह किसी बाह्यतत्त्व पर आधारित नहीं है।

जैन-धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों की अभिन्नता

सामान्यतया कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने धर्म और नीति के बीच एक विभाजक रेखा खींची है और इसी आधार पर वे नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों में भी अन्तर करते हैं। वे नैतिक कर्तव्यता को 'करना चाहिए' के रूप में और धार्मिक कर्तव्यता को "करना होगा" के रूप में लेते हैं। किन्तु, सामान्य रूप से भारतीय दार्शनिक और विशेष रूप से जैन दार्शनिक नैतिक एवं धार्मिक कर्तव्यता को अभिन्न रूप से ही ग्रहण करते हैं। वे धर्म और नीति के बीच कोई सीमा रेखा नहीं खींचते हैं। भारत में धर्म शब्द का व्यवहार अधिकांश रूप में कर्तव्य एवं सदाचार के अर्थ में ही हुआ है और इस प्रकार वह नीतिशास्त्र का प्रत्यय बन जाता है। भारत में नीतिशास्त्र के लिए धर्मशास्त्र शब्द का ही प्रयोग हुआ है। धर्म और नीति में यह विभाजन मुख्यतया मानवीय चेतना के भावात्मक और सङ्कल्पात्मक पक्षों के आधार पर किया गया है। पाश्चात्य विचारक यह मानते हैं कि धर्म का आधार विश्वास या श्रद्धा है, जबकि नैतिकता का आधार सङ्कल्प है। धर्म का सम्बन्ध हमारे भावनात्मक पक्ष से है, जबकि नैतिकता का सम्बन्ध हमारे सङ्कल्पात्मक पक्ष से है। सेम्युअल एलेक्जेण्डर के शब्दों में 'धार्मिक होना' इससे अधिक कर्तव्य नहीं है, जैसे कि 'भूखा होना' कोई कर्तव्य है। जिस प्रकार भूख एकमात्र सांवेगिक अवस्था है, उसी प्रकार धर्म भी एक सांवेगिक अवस्था है। विलियम जेम्स का कहना है कि "यदि हमें धर्म का कोई निश्चित अर्थ लेना है तो हमें उसे भावनाओं के अतिरेक और उत्साहपूर्ण आलिङ्गन के अर्थ में लेना चाहिए। जहाँ तथाकथित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नैतिकता केवल सिर झुका देती है और राह छोड़ देती है।'' वस्तुत: भारत में धर्म और नैतिकता दो अलग-अलग तथ्य नहीं रहे हैं। मानवीय चेतना के भावात्मक और सङ्कल्पात्मक पक्षों को चाहे एक दूसरे से पृथक् देखा जा सकता हो, किन्तु उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। भावना, विवेक और सङ्कल्प, मानवीय चेतना के तीन पक्ष हैं। चूँकि मनुष्य एक समग्रता है, अत: ये तीनों पक्ष एक दूसरे के साथ मिले हुए हैं। इसीलिए मैथ्यु आरनॉल्ड को यह कहना पड़ा था कि भावनायुक्त नैतिकता ही धर्म है। पश्चिम में यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण रूप से चर्चित रहा है कि धार्मिक और नैतिक कर्तव्यों में कौन प्राथमिक है? डेकार्ट, लॉक प्रभृति अनेक विचारक नैतिक नियमों को ईश्वरीय आदेश से प्रतिफलित मानते हैं और इस अर्थ में वे धर्म को नैतिकता से प्राथमिक मानते हैं। जबकि कॉण्ट, मार्टिन्यू आदि नैतिकता पर धर्म को अधिष्ठित करते हैं। कॉण्ट के अनुसार, धर्म नैतिकता पर आधारित है और ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता के अस्तित्व के कारण है। जहाँ तक भारतीय चिन्तन और विशेष रूप से जैन परम्परा का प्रश्न है वे धर्म और नैतिकता को एक दूसरे से पृथक् नहीं करते हैं। 'आचार: प्रथमो धर्म:' के रूप में नीति की प्रतिष्ठा धर्म के साथ जुड़ी हुई है। जैन दर्शन की भाषा में कहें तो दोनों अन्योन्याश्रित हैं। सम्यग्चारित्र का आधार सम्यग्दर्शन है और सम्यग्चारित्र के अभाव में सम्यग्दर्शन भी नहीं होता है। सदाचरण के बिना सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् श्रद्धा के बिना सदाचरण सम्भव नहीं है। धर्म न नैतिकताविहीन है और न तो नैतिकता धर्मविहीन। ब्रैडले के शब्दों में यह असम्भव है कि एक व्यक्ति धार्मिक होते हुए अनैतिक आचरण करे। ऐसी स्थिति में या तो वह धर्म का ढोंग कर रहा है या उसका धर्म ही मिथ्या है। कुछ लोग धर्म और नैतिकता का अन्तर इस आधार पर करते हैं कि नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है। जहाँ तक शुभ और अशुभ का संघर्ष है वहाँ तक नैतिकता का क्षेत्र है। धर्म के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। क्योंकि धार्मिक तभी हुआ जा सकता है, जबकि व्यक्ति अशुभ से पूर्णतया विरत हो जाये और जब अशुभ नहीं रहता तो शुभ भी नहीं रहता। जैन दार्शनिकों में आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य (शुभ) और पाप (अशुभ) दोनों से ऊपर उठने का निर्देश दिया है। यद्यपि हमें यह स्मरण रखना होगा कि अशुभ से निवर्तन के लिए प्रथम शुभ की साधना आवश्यक है। धर्म का क्षेत्र पुण्य-पाप के अतिक्रमण का क्षेत्र है; अत: वह नैतिकता से ऊपर है, फिर भी हमें यह मानना होगा कि धार्मिक होने के लिए जिन कर्तव्यों का विधान किया गया है वे स्वरूपत: नैतिक ही हैं। जैन धर्म के पाँच व्रतों, बौद्ध धर्म के पञ्चशीलों और योग दर्शन के पञ्चयमों का सीमाक्षेत्र नैतिकता का सीमा-क्षेत्र ही है। भारतीय परम्परा में धार्मिक होने के लिए नैतिक होना आवश्यक है। इस प्रकार आचरण की दृष्टि से नैतिक-कर्तव्यता प्राथमिक है और धार्मिक-कर्तव्यता परवर्ती है। यद्यपि नैतिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार के कर्तव्यों की बाध्यता का उद्भव कर्म के नियम से होता है, अत: इन कर्तव्यों की बाध्यता का उद्भव मूलत: धार्मिक ही है।

कुछ पाश्चात्य विचारकों की यह मान्यता है कि बिना धार्मिक कर्तव्यों का पालन किये भी व्यक्ति सदाचारी हो सकता है। सदाचारी जीवन के लिए धार्मिकता अनिवार्य तत्त्व नहीं है। आज साम्यवादी देशों में इसी धर्मविहिन नैतिकता का पाठ पढ़ाया जाता है। यदि धर्म का अर्थ किसी वैयक्तिक ईश्वर के प्रति आस्था या पूजा के क्रिया-काण्डों तक सीमित है, तब तो यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति धार्मिक हुए बिना भी नैतिक हो सकता है। किन्तु, जब धार्मिकता का अर्थ ही सदाचारिता हो तो फिर क्या यह सम्भव है कि बिना सदाचारी हुए कोई व्यक्ति धार्मिक हो जाये? जैन दर्शन हमें धर्म की जो व्याख्या देता है वह न तो किसी वैयक्तिक ईश्वर के प्रति आस्था की बात कहता है और न धर्म के कुछ क्रिया-काण्डों तक सीमित रखता है। उसने धर्म की परिभाषा करते हुए चार दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं—

(१) वस्तु का स्वभाव धर्म है;
(२) क्षमा आदि सद्‌गुणों का आचरण धर्म है;
(३) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र ही धर्म है; और
(४) जीवों की रक्षा करना ही धर्म है।

यदि इन परिभाषाओं के सन्दर्भ को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक होना और नैतिक होना यह दो अलग-अलग तथ्य नहीं हैं। 'धर्म' नैतिकता की आधारभूमि है और 'नैतिकता' धर्म की बाह्य अभिव्यक्ति। धर्म नैतिकता की आत्मा है और नैतिकता धर्म का शरीर। अत: जैन विचारक धार्मिक और नैतिक कर्तव्यता के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींचते हैं। उनके अनुसार आन्तरिक निष्ठापूर्वक सदाचार का पालन करना अर्थात् नैतिक दायित्वों या कर्तव्यों का पालन करना ही धार्मिक होना है।

जैनधर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का व्यावहारिक पक्ष

जैनधर्म में हम नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता में कोई विभाजक रेखा खींचना चाहें तो उसे सामाजिक कर्तव्यता और वैयक्तिक कर्तव्यता के आधार पर ही खींचा जा सकता है। हमारे कर्तव्य और दायित्व दो प्रकार के होते हैं, एक जो दूसरों के प्रति हैं और दूसरे जो अपने प्रति हैं। जो दूसरों अर्थात् समाज के प्रति हमारे दायित्व हैं वे नैतिकता की परिसीमा में आते हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के व्रतों का जो बाह्य या व्यवहार पक्ष है, उसका पालन नैतिक कर्तव्यता है, जबकि समभाव, द्रष्टाभाव या साक्षीभाव जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'सामायिक' कहा गया है, की साधना धार्मिक कर्तव्यता है। जैन धर्म में आचार और पूजा-उपासना की जो दूसरी प्रक्रियाएँ हैं उनका महत्त्व या मूल्य इसी बात में है कि समभाव जो हमारा सहज स्वभाव है, की उपलब्धि में, किस सीमा तक सहायक है। यदि हमें जैन धर्म में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता को अति संक्षेप में कहना हो तो उन्हें क्रमश: 'अहिंसा' और 'समता' के रूप में कहा जा सकता है, उसमें अहिंसा सामाजिक या नैतिक कर्तव्यता की सूचक है और समता (सामायिक) धार्मिक कर्तव्यता की सूचक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org